

Vol 4 Issue 8 Sept 2014

ISSN No : 2230-7850

International Multidisciplinary
Research Journal

*Indian Streams
Research Journal*

Executive Editor
Ashok Yakkaldevi

Editor-in-Chief
H.N.Jagtap

Welcome to ISRJ

RNI MAHMUL/2011/38595

ISSN No.2230-7850

Indian Streams Research Journal is a multidisciplinary research journal, published monthly in English, Hindi & Marathi Language. All research papers submitted to the journal will be double - blind peer reviewed referred by members of the editorial board. Readers will include investigator in universities, research institutes government and industry with research interest in the general subjects.

International Advisory Board

Flávio de São Pedro Filho Federal University of Rondonia, Brazil	Mohammad Hailat Dept. of Mathematical Sciences, University of South Carolina Aiken	Hasan Baktir English Language and Literature Department, Kayseri
Kamani Perera Regional Center For Strategic Studies, Sri Lanka	Abdullah Sabbagh Engineering Studies, Sydney	Ghayoor Abbas Chotana Dept of Chemistry, Lahore University of Management Sciences[PK]
Janaki Sinnasamy Librarian, University of Malaya	Ecaterina Patrascu Spiru Haret University, Bucharest	Anna Maria Constantinovici AL. I. Cuza University, Romania
Romona Mihaila Spiru Haret University, Romania	Loredana Bosca Spiru Haret University, Romania	Ilie Pintea, Spiru Haret University, Romania
Delia Serbescu Spiru Haret University, Bucharest, Romania	Fabricio Moraes de Almeida Federal University of Rondonia, Brazil	Xiaohua Yang PhD, USA
Anurag Misra DBS College, Kanpur	George - Calin SERITAN Faculty of Philosophy and Socio-Political Sciences AL. I. Cuza University, IasiMore
Titus PopPhD, Partium Christian University, Oradea,Romania		

Editorial Board

Pratap Vyamktrao Naikwade ASP College Devrukh,Ratnagiri,MS India	Iresh Swami Ex - VC. Solapur University, Solapur	Rajendra Shendge Director, B.C.U.D. Solapur University, Solapur
R. R. Patil Head Geology Department Solapur University,Solapur	N.S. Dhaygude Ex. Prin. Dayanand College, Solapur	R. R. Yaliker Director Managment Institute, Solapur
Rama Bhosale Prin. and Jt. Director Higher Education, Panvel	Narendra Kadu Jt. Director Higher Education, Pune	Umesh Rajderkar Head Humanities & Social Science YCMOU,Nashik
Salve R. N. Department of Sociology, Shivaji University,Kolhapur	K. M. Bhandarkar Praful Patel College of Education, Gondia	S. R. Pandya Head Education Dept. Mumbai University, Mumbai
Govind P. Shinde Bharati Vidyapeeth School of Distance Education Center, Navi Mumbai	Sonal Singh Vikram University, Ujjain	Alka Darshan Shrivastava Shaskiya Snatkottar Mahavidyalaya, Dhar
Chakane Sanjay Dnyaneshwar Arts, Science & Commerce College, Indapur, Pune	G. P. Patankar S. D. M. Degree College, Honavar, Karnataka	Rahul Shriram Sudke Devi Ahilya Vishwavidyalaya, Indore
Awadhesh Kumar Shirotriya Secretary,Play India Play,Meerut(U.P.)	Maj. S. Bakhtiar Choudhary Director,Hyderabad AP India.	S.KANNAN Annamalai University,TN
	S.Parvathi Devi Ph.D.-University of Allahabad	Satish Kumar Kalhotra Maulana Azad National Urdu University
	Sonal Singh, Vikram University, Ujjain	

Address:-Ashok Yakkaldevi 258/34, Raviwar Peth, Solapur - 413 005 Maharashtra, India
Cell : 9595 359 435, Ph No: 02172372010 Email: ayisrj@yahoo.in Website: www.isrj.org



**कुमाऊँ के धार्मिक परिदृश्य में पारम्परिक काष्ठ कला की उपयोगिता
(जनपद बागेश्वर के विशेष संदर्भ में)**

Harish Singh Dafouti

Research scholar , D S B Campus , Kumaoun University Nainital , Uttarakhand.

सारांश :-पर्वतीय राज्य उत्तराखण्ड का कुमाऊँ मण्डल अत्यंत पवित्र भूमि है, यह भूमि हरित आभायुक्त, निर्मल, सुरम्य व फलपुष्प दायिनी है। इसके सौन्दर्य को शब्दों की परिधि में नहीं समेटा जा सकता। अपितु इसे तो केवल हृदय से महसूस किया जा सकता है। कुमाऊँ क्षेत्र हिमालय की गोद में अवस्थित एक अत्यंत रमणीय मंडल है। मुख्यतः यह क्षेत्र अपनी हिमालयी देवकूल परम्पराओं, अपने छोटे कच्छपनुमा आकृति वाले पहाड़ों, सुरम्य वातावरण एवं सुन्दर प्राकृतिक छटाओं आदि के लिए जाना जाता है। यह क्षेत्र प्राचीन काल से ही ऋषि-मुनियों की तपस्थली रहा है। यहाँ के घने जंगल, शुद्ध जलयुक्त नदियाँ, औषधीय गुणयुक्त वनस्पतियाँ एवं शीतल जलवायु, इस सम्पूर्ण क्षेत्र को आलौकिक व स्वर्गिक अनुभूति प्रदान करती है। इस कारण इसे ध्यान, योग व आध्यात्म के लिए सर्वोत्तम माना गया है। पर्यटन का आनंद लेने के लिए लोग यहां बार-बार आना पसंद करते हैं।

प्रस्तावना :-

कुमाऊँ की प्राकृतिक सुंदरता से अभिभूत हो महात्मा गाँधी ने अपनी पुस्तक यंग इंडिया में लिखा है—
“जब हमारे निकट कुमाऊँ की पहाड़ियों की सुंदरता है तब लोगों का स्वास्थ्य स्थलों की खोज में यूरोप जाने की क्या आवश्यकता है?”

महात्मा गाँधी जी का यह कथन कुमाऊँ के सुरम्य व स्वास्थ्यवर्द्धक वातावरण के परिप्रेक्ष्य में बिल्कुल सटीक बैठता है। अभी यह क्षेत्र शहरी कारखानों के जान लेवा धूम्र से ग्रसित नहीं है। यहाँ ग्लेशियरों से निकलने वाले शुद्ध जल एवं औषधीय वनस्पतियों से युक्त जंगलों से निर्मित वातावरण अवश्य ही मानव के स्वप्न सदृश क्षेत्र की परिकल्पना को साकार करता है। यहाँ की सुंदर छटाओं को देखकर ने कहा था—

“मैं स्वप्न में भी कुमाऊँ के अद्भुत दृश्यों व हिमालय की नैसर्गिक छटाओं को देखता हूँ और ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह दिन जल्दी आये जब यह दिव्य भूमि हमारे हस्तगत हो।”

कुमाऊँ क्षेत्र न केवल अपने अप्रतिम सौन्दर्य के लिए अपितु अपनी सांस्कृतिक व आध्यात्मिक परम्पराओं के लिए भी विश्व विख्यात है। यहाँ के मधुर व कर्णप्रिय लोकप्रिय झोड़ा, चाँचरी, छपेली, न्योली आदि यहाँ के जन गन की आत्मा की सुखद अभिव्यक्ति हैं। यहाँ की लोक-परम्पराएँ, तीज-त्यौहार, उत्सव-मेले, वस्त्राभूषण, भारत के प्राचीन गौरवशाली इतिहास की वर्तमान प्रतिनिधि हैं। ना जाने कितने वर्षों से यह क्षेत्र अपनी परम्पराओं को प्राचीन भावनाओं के रूप में संजोए होते हैं। बदलते परिवेश ने भले ही इन परम्पराओं में आमूल-चूल परिवर्तन ला दिए हैं, परंतु क्षेत्रवासियों ने उन परम्पराओं व संस्कारों की मूल भावना को ज्यों का त्यों संरक्षित करने का प्रयास किया है।

कुमाऊँ क्षेत्र की सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, व प्राकृतिक सौन्दर्य की जितनी प्रशंसा की जाए, कम ही होगा। समय की प्रतिस्पर्धा के मध्य भी यह क्षेत्र आज भी अपनी गौरवमयी परम्पराओं के निर्वहन के लिए प्रतिबद्ध दिखता है। यही कारण है कि लोग इसकी अनुभूति का आनन्द लेने यहाँ आते हैं तथा उस अनुभूति के आनन्द के लिए बार-बार यहाँ लौटना चाहते हैं।

यह सर्वविदित है कि मानव का कला से जुड़ाव प्रागैतिहासिक काल से ही हो गया था। तब, जब मानव को जीवन व मृत्यु के मध्य का अन्तर भले ही न पता हो परन्तु आन्तरिक अभिव्यक्ति की चेष्टा अवश्य रही थी। निःसंदेह कला आन्तरिक अभिव्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। कला के प्रयोग का प्रमाण हमें तात्कालीन मानव द्वारा छोड़े गए अवशेष चिन्हों द्वारा प्राप्त होता है। मानव ने विकास के साथ अपनी आवश्यकताओं को समझना प्रारम्भ किया एवं इसकी पूर्ति उसने प्रकृति प्रदत्त उपहारों (वृक्ष, प्रस्तर, धातु इत्यादि) से उपकरणों का निर्माण करना प्रारम्भ किया, इस प्रकार मानव ने कला को उपयोगी बनाकर स्वयं के लिए विकास पथ का निर्माण किया।

काष्ठ की उपयोगिता एवं सुगम उपलब्धता की दृष्टि से मानव द्वारा सदैव से ही 'काष्ठ' का प्रमुखता से प्रयोग होता रहा है। प्रागैतिहासिक काल में यह शिकार के उपकरणों हेतु तो परवर्ती काल में यह कृषि यंत्रों के रूप में मानव विकास का सहचर बना। सभ्यता के विकास के साथ ही काष्ठ निर्मित सामग्रियों का प्रचलन बढ़ता गया एवं यह मानव जीवन का अभिन्न अंग बन गया। कृषि यंत्रों, द्वार विभूषण, वाहन, यज्ञयूप, रथ, भवन सज्जा व दैनिक उपयोग के अनेक साधनों के रूप में काष्ठ अपनी उपयोगिता व सहजता के कारण हमारे जीवन में नियमित हो गया।

साहित्य कला की चिरसंगिनी है। साहित्य के विभिन्न स्रोतों से हमें यह जानकारी प्राप्त होती है कि 'काष्ठ शिल्प' की उपयोगिता मानव जीवन के प्रत्येक काल में रही है। हमारे प्राचीन साहित्य संदर्भों में उल्लेखित है कि वैदिक काल से ही काष्ठ कर्म को विशेष स्थान प्राप्त था, एवं काष्ठ शिल्पी को विशेष सम्मान प्राप्त था। उदाहरण स्वरूप अथर्ववेद में युद्ध व वाहन स्वरूप प्रयोग होने वाले 'रथ' व उनके निर्माता 'रथकार' कहलाये जाते थे, उनकी कार्य कुशलता व बुद्धिमता की प्रशंसा का उल्लेख मिलता है। वैदिक काल में काष्ठ कर्म को 'तक्षण' कार्य तथा काष्ठ शिल्पी को 'तक्षा' कहा जाता था। इसी प्रकार नाट्य शास्त्रों में लकड़ी को काँट-छाँट कर आसन, शयन, रथ, आदि को बनाने के कला को वर्धकी कर्म, दारु कर्म तथा काष्ठ विधि कहा गया है।

उत्तराखण्ड वन सम्पदा से प्रफुल्ल क्षेत्र है, चाहे बागेश्वर हो अथवा कोई अन्य क्षेत्र यहाँ सभी स्थानों में काष्ठ का प्रयोग बहुतायत हुआ है। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि यहाँ काष्ठ शिल्प की प्राचीन परम्परा रही है। काष्ठ द्रव्य का प्रयोग यहाँ के निवासियों के लिए सहज एवं अनुकूलित रहा है। अनोल से मासू देवता, थाम में जमदाग्नि और अगासमुनि आदि के मंदिर प्राचीन काष्ठमूल परम्परा के वाहक हैं। इनके अतिरिक्त काष्ठ छत्र प्रसाद मुक्त मंदिर लाखेश्वर, गोपेश्वर, केदारनाथ, जागेश्वर, बिनसर के शिवमंदिर, रणीहाट व देवलगढ़ के शक्ति मंदिर तथा त्रियुगी नारायण और देवप्रयाग के वैष्णव मंदिर उत्तराखण्ड में काष्ठ शिल्प परम्परा के उन्नत उदाहरण हैं। इस संदर्भ में कौशल किशोर सक्सेना लिखते हैं—

“पर्वतीय क्षेत्रों की स्थिति देखने से लगता है कि यहाँ भी सबसे पहले मंदिर काष्ठ निर्मित रहे होंगे जो इष्टिका लॉधते हुए प्रस्तर तक आ पहुँचे, छाद्य की सामग्री के रूप में काष्ठ का व्यापक प्रयोग हुआ इसका प्रारम्भिक कारण हिमपात से सुरक्षा रहा होगा।”

आज उत्तराखण्ड के अन्य क्षेत्रों के अलावा बागेश्वर जनपद भी एक आदर्श उदाहरण है, जहाँ आज भी प्राचीन काष्ठ शिल्प विभिन्न रूपान्तरण लेकर हमारी सांस्कृतिक धरोहर के रूप में संचित है। दैनिक जीवन के विभिन्न क्रियाकलापों, धार्मिक संस्कारों, वास्तुशिल्प अलंकरणों व कृषि यंत्र उपकरणों के रूप में यह शिल्प हमारी सामाजिक व्यवस्था का प्रमुख अंग है। आज भले ही विज्ञान ने उपयोगिता के नए विकल्प प्रस्तुत कर दिए हों परंतु फिर भी सीमित रूप में सही, इस शिल्प महत्व को कमतर नहीं आँका जा सकता।

अध्ययन की सुविधा हेतु हम जनपद को काष्ठ शिल्प उपयोगी पक्ष को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत विभक्त कर सकते हैं :-

- | | |
|----------------------------|------------------------|
| (क)—दैनिक जीवन की उपयोगिता | (ख)—वास्तुशिल्प अलंकरण |
| (ग)—धार्मिक संस्कारों में | (घ)—कृषि उपकरण में |
| (क)दैनिक उपयोगिता | |

जनपद बागेश्वर में प्राचीन काल से काष्ठ निर्मित वस्तुएँ अत्यधिक प्रचलन में रही हैं। यह क्षेत्र असमान भौगोलिक परिस्थितियों वाला क्षेत्र है। जहाँ पृथक वन सम्पदाएँ तथा पृथक वनस्पतियों पायी जाती हैं। यहाँ कहीं आम जैसे गर्म जलवायु वाले वृक्ष पाए जाते हैं तो कहीं देवदार जैसे ठंडी जलवायु वाले वृक्ष हैं। इन विपरीत परिस्थितियों ने यहाँ काष्ठ शिल्प को भी भिन्नता प्रदान की है। यहाँ अलग-अलग क्षेत्रों की आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के काष्ठ निर्मित वस्तुएँ, बर्तन व उपकरण आदि उपयोग में लाए जाते हैं। इस क्षेत्र के काष्ठ निर्मित वस्तुओं व शिल्प का दैनिक उपयोगिता के आधार पर निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है।

- 1 : अनाज मापन सम्बन्धी
- 2 : दैनिक उपयोग पात्र
- 3 : घट व घराट से सम्बन्धित काष्ठ
- 4 : बांस व निगाल से सम्बन्धित
- 5 : वाद्य यंत्र

1 : अनाज मापन सम्बन्धी : — माण—

'माण' छोटे डमरू की तरह की आकृति वाला पहाड़ी मापक यंत्र है। इसका प्रयोग अनाज भरने के लिए किया जाता है। एक माण में 6 (छः) मुट्ठी तक अनाज आता है। प्राचीन समय में रुपये व पैसे नहीं प्रयुक्त होते थे। इसलिए लोग अनाज के बदले अन्य जरूरत के समान ले लेते थे। माण जैसे अनाज मापक यंत्रों की सहायता से ही यह लेन-देन संभव हो पाता था। माण ऊपर की ओर चौड़ा तथा बीच में थोड़ा संकरा हो जाता है तथा नीचे की ओर फिर चौड़ा हो जाता है। यह मापन की सबसे छोटी इकाई है।

नाई

नाई भी अनाज मापने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इसका आकार माण से बड़ा होता है। इसकी आकृति भी माण की भांति ही डमरूनुमा होती है। एक नाई में 6 माण अनाज आता है। इसका प्रयोग भी परस्पर आवश्यक वस्तुओं के लेन-देन में किया जाता है।

पसेरी-

पसेरी भी अनाज मापक है, यह मापन की तीसरी बड़ी इकाई है। यह आकार में नाइ से बड़ी होती है। परन्तु आकृति नाई की भांति ही होती है। एक पसेरी में आठ माण के बराबर अनाज आता है। मापन की नई प्रणालियों के प्रयोग से हमारी प्राचीन सभ्यता के ये मापक यंत्र आज विलुप्त की कगार में हैं।

बैकर-

बैकर मापक श्रेणी में द्वितीय उपकरण है, यह माण से बड़ा होता है। एक बैकर में 2 माण के बराबर अनाज आता है। बैकर शब्द की उत्पत्ति बाई व कर शब्दों के मेल से हुई है। जिनका सम्मिलित रूप में अर्थ है, कर के रूप में। प्राचीन समय में किसी कार्य को करवाने के उपरान्त उसका कर अनाज के रूप में चुकाया जाता था। इसके लिए मापक काष्ठ भांडों का प्रयोग होता था। बैकर उन्हीं इकाइयों में से एक थी।

2 : दैनिक उपयोग पात्र :-

ठेकी

बागेश्वर तथा कुमाऊँ के ग्रामीण अंचल में ठेकी अत्यधिक प्रचलित है। इसका प्रयोग प्राकृतिक रूप से दही जमाने के लिए किया जाता है। इसका आकार गोल होता है। ऊपरी सिरा थोड़ा संकरा तथा निचला हिस्सा ऊपरी हिस्से के मुकाबले थोड़ा चौड़ा होता है। इस ठेकी में जमा दही स्वाद में बड़ा अच्छा होता है तथा बहुत दिनों तक खट्टा भी नहीं होता। आकार में छोटा या ठिगना होने के कारण ही इसे ठेकी कहा जाता है।

नय्या (दूधक)

नय्या या दूधक को विभिन्न स्थानीय नामों जैसे कत्यूर, रै नय्या, डबक, डोलू, दूधक आदि से जाना जाता है। यह दही मथने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इसकी सहायता से दही हाक मथ कर मट्टा (छांस) तैयार किया जाता है। इसका आकार भी ठेकी की तरह ही होता है। यह ऊपर से अधिक संकरा तथा नीचे से चौड़ा होता है। इसकी लम्बाई ठेकी से अधिक होती है। इसका मुँह अधिक संकरा इसलिए बनाया जाता है ताकि दही मथते समय दही नीचे ना गिरे। इसे मजबूत लकड़ी से बनाया जाता है। प्रायः यह सादा ही बनाया जाता है परंतु कहीं-कहीं इसे अलंकृत भी किया जाता है।

रौली (गजैड़)

रौली शब्द रड़ने से उत्पन्न हुआ है। रड़ना का हिन्दी अर्थ है फिसलना। यह यंत्र निंगाल का बनाया जाता है। इसका प्रयोग नय्या में दही की मथनी के रूप में किया जाता है। इसमें 5-8 निंगाल की डंडियों को इस प्रकार व्यस्थित किया जाता है जिससे दही को आसानी से मथा जा सके। इसमें नीचे की ओर एक फिरकी भी लगी रहती है। जो इसे आसानी से घूमने में सहायता करती है। रौली दो आकारों की होती है। छोटी तथा बड़ी। छोटी रौली छोटे वर्तन में दही मथने के लिए तथा बड़ी रौली बड़े वर्तन में दही मथने के लिए प्रयुक्त होती है। रौली को रस्सी की मदद से घुमाकर दही को मथा जाता है।

दौव्या (डौगा)

इसे नौड़ी भी कहा जाता है। इसका प्रयोग मक्खन को रखने के लिए किया जाता है।

2: घट व घराट से सम्बन्धित काष्ठ

‘घराट’ ग्रामीण अभियांत्रिकी का उन्नत उपकरण है। प्राचीन समय से ही यह सम्पूर्ण उत्तराखण्ड की जीवनशैली का अभिन्न अंग रहा है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि कुमाऊँ तथा गढ़वाल का सम्पूर्ण जीवन इसी तंत्र पर आधारित रह चुका है। घराट कम खर्च व मजबूत व्यवस्था पर आधारित सफल उपकरण है, जो पूर्णतया प्रकृति तथा भौतिकी के नियमों पर आधारित है। यह पूर्णतया प्रदूषण रहित स्वस्थ व्यवस्था है जिसका उच्च स्तर पर विकास किए जाने की आवश्यकता है। आज के आधुनिक युग में प्राकृतिक ऊर्जा के स्रोतों को संरक्षित करने तथा उनका अधिक से अधिक प्रयोग करने की बात कही जा रही है तथा घराटों को संरक्षित व पुनर्जीवित करने का प्रयास किया जा रहा है। घराट अभियांत्रिकी के निम्न भाग होते हैं -

पन्याव

‘पन्याव’ शब्द पानी से सम्बन्धित है। घराट प्रणाली में पन्याव पानी को ले जाने वाली लकड़ी की बनी छोटी नहर होती है। पन्याव को इस प्रकार निर्मित किया जाता है कि इससे प्रवाहित होकर पानी का वेग बढ़े तथा घराट को घुमाने वाले फितड़े तेजी से घूम सके। पानी के वेग में तीव्रता लाने के लिए इसका ऊँचाई वाले स्थान से नीचाई वाली स्थान में झुकाव लगभग 450 से 550 तक रखा जाता है। यह प्रारम्भ में अधिक चौड़ी होती है जिससे इसमें अधिक से अधिक पानी आ सके तथा धीरे-धीरे घराट के फितड़ों

की ओर संकरी होती जाती है जिससे पानी के वेग में तीव्रता आ सके। 'पन्याव' या पन्याला की लम्बाई लगभग 18 हाथ या उससे बड़ी भी हो सकती है।

गिन (गिन्युन)–

'गिन' घराट प्रणाली में प्रयुक्त होने वाला प्रमुख यंत्र है। यह गोल स्तम्भनुमा आकृति होती है। इसके चारों ओर छेद बनाए जाते हैं तथा इन छेदों में फितौड़ों को फँसाया जाता है। जब फितौड़े घूमते हैं तो उन पर लगने वाले बल के कारण गिन भी घूमने लगता है। यह गिन घराट में लगे पत्थर के चाकों को घुमाता है तथा उनके मध्य अनाज पिसता है।

फितौड़

'घराट' को चलाने में सबसे मुख्य भूमिका लकड़ी के बने छोटे-छोटे पंखनुमा आकृति वाले फितौड़ों की होती है। इनकी संख्या लगभग 15–16 होती है। पन्याव से पानी तीव्र गति से इन फितौड़ों में गिरता है। जिससे ये फितौड़े तेजी से घूमने लगते हैं। फितौड़े गिन से जुड़े होते हैं तथा गिन को भी घुमाने लगते हैं। फितौड़े व गिन की जुगलबन्दी से घराट के बड़े-बड़े चाक घूमते हैं तथा अनाज को बारीक पीसते हैं।

फितौड़ बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इन्हें मजबूत लकड़ी से निर्मित किया जाए। ताकि यह पत्थर के चाकों को आसानी से घुमा सके तथा आसानी से न टूटे। संभव है कि पानी व फितौड़ों से उत्पन्न फत्-फत् की ध्वनि के कारण इन्हें फितौड़ या फितौड़ कहा गया है।

ड्वाक

ड्वाक की आकृति चक्की के ऊपर लगे बर्तन की भांति ही होती है, यह आकार में बड़ा होता है। इसमें आने वाले अधिक भाग के अनाज के कारण ही इसे ड्वाक कहा जाता है। यह ऊपर से चौड़ा तथा नीचे से संकरा होता जाता है। इसमें अनाज डाला जाता है तथा नियंत्रित रूप से अनाज इसमें से मण में गिरता रहता है। निग व चिड़ की सहायता से यह हिता है तथा अनाज माण में गिरता है।

ब्यूँ (बिन)

ब्यूँ या बिन दोनों पाटों के मध्य लगने वाली लकड़ी है। इसकी सहायता से पाटों (चाकों) की दूरी कम या ज्यादा की जाती है। यदि पाटों के मध्य की दूरी ब्यूँ की सहायता से कम कर दें तो अनाज मोटा पिसता है। यदि पाटों के मध्य की दूरी ज्यादा कर दें तो अनाज महीन व बारीक पिसता है।

चिड़

स्थानीय भाषा में चिड़ कहलाने वाले ये यंत्र ड्वाक से व पाटों के मध्य की प्रणाली को संयोजित करते हैं। ये ड्वाक में डण्डे नुमा आकृतियों में छिद्रों के मध्य जुड़े रहते हैं। आमतौर पर इनकी संख्या 4 होती है। इनको आवश्यकतानुसार कम या ज्यादा किया जाता है। जब मोटे अनाज की आवश्यकता हो तो चिड़ निकाल लेते हैं। चिड़, चाकों से टकरा कर ड्वाक को हिलाते हैं तथा ड्वाक से अनाज के दाने गिरते हैं।

3 : बाँस व रिंगाल से सम्बन्धित

बाँस व रिंगाल शिल्प प्राचीन काल से प्रयोग किए जाने वाली विधा है। इसकी आसानी से उपलब्धता एवं शिल्प प्राकृतिक गुणों के कारण इससे निर्मित वस्तुओं का बहुतायत प्रयोग होता है। इस काष्ठ का प्रयोग वैदिक काल से ही प्रचलन में आ गया था। कई प्राचीन ग्रंथों में बाँस व रिंगाल शिल्प एक हस्त शिल्प के रूप में उल्लेखित है। इस संदर्भ में—

“ललित विस्तर में इसे 'विदल कर्म' तथा शुक्रनीतिसार में वेणुतृणादिपात्राणां (बाँस आदि से बर्तन बनाने की कला) कहा गया है।” इसी संदर्भ में वे अग्रिम पंक्तियों में लिखती है:—

“यजुर्वेद में एक हस्तशिल्प या गृह-उद्योग के रूप में इस कला का उल्लेख हुआ है। बेंत और बाँस का काम करने वाली स्त्रियों को विदलकारी तथा पुरुषों को 'विदलकार' कहा गया है।”

बाँस व रिंगाल की प्रवृत्ति लचकता युक्त होती है। यह लोचदार होने के साथ-साथ मजबूत भी होती है। पानी के सम्पर्क में आकर भी यह दीर्घ काल तक उपयोगी रहती है। इसकी लचक के कारण इसे मनचाहा आकार प्रदान किया जा सकता है, तथा भार में हल्कापन होने के कारण इनसे निर्मित वस्तुएँ प्रयोग में सहज होती हैं।

रिंगाल शिल्प निर्माण में सबसे महत्वपूर्ण व आवश्यक कार्य है, उपयुक्त रिंगाल की पहचान व निर्माण की तैयारी। रिंगाल को जंगलों से काट कर दो-तीन वर्ष तक सुखाने के लिए रख दिया जाता है तथा निर्माण से पहले यह ध्यान रखा जाता है कि चुने गए रिंगाल में कलिया ना निकली हों। जिनमें कलिया निकल आती है वह निंगाल सख्त हो जाता है जो निर्माण के लिए उपयुक्त नहीं माना जाता है।

सर्वप्रथम रिंगाल को पतली-पतली पट्टियों में चीर लेते हैं। उन पट्टियों का भीतरी गूदड़ वाला भाग दराती से अलग कर लेते हैं। रिंगाल की पट्टियों में कोमलता लाने के लिए उनको पानी में भिगा लिया जाता है। कभी-कभी इनको पका भी लेते हैं जिससे उनमें लोच बढ़ जाए एवं रिंगाल मुलायम हो जाए। अलग-अलग वस्तुओं के निर्माण विधि में थोड़ा बहुत अन्तर होता है, अथवा सभी वस्तुओं में रिंगाल की पट्टियों को आड़ा व तिरछा बुना जाता है। अधिकांशतः निर्माण में धन व गुणा के आकार में बुनाई

की जाती है।

बागेश्वर जनपद में यह शिल्प प्रमुख हस्तशिल्प है। इसका वानस्पतिक नाम एनुडिनारिया है। इसे रिंगाल के अलावा निंगाल भी कहा जाता है। यह शीत प्रधान वनस्पति है जो लगभग 1500 से 1800 मी० तक की ऊँचाई में पाया जाता है। बागेश्वर जनपद की कपकोट तहसील में फरसाली, बाछम, खाती, सुराग, जैतौली, पोथिंग, झूनी, खलझूनी, गोगिना, लीती, मिखला व खलपट्टी आदि क्षेत्रों में रिंगाल पाया जाता है। गरुड़ तहसील में लमचूला क्षेत्र इस शिल्प के लिए जाना जाता है। पिण्डर क्षेत्र में रिंगाल की दिओनिगला नामक प्रजाति अधिक मात्रा में पायी जाती है।

इनसे निर्मित वस्तुएँ निम्न हैं –

1- 'गवद'

गवद को रिंगाल से बनाया जाता है। इसे रिंगाल के अन्य वस्तुओं की भाँति ही निर्मित किया जाता है। इसमें छोटे-छोटे छिद्र छोड़े जाते हैं। यह ऊपर की ओर से चौड़ा तथा नीचे की ओर से त्रिभुज की भाँति तिकोना होता है। इसका प्रयोग मछलियों को पकड़ने के लिए किया जाता है। इसे बनाते समय यह सावधानी आवश्यक है कि इसे मजबूती के साथ गुँथा जाए ताकि पानी कि तेज बहाव में यह खुलकर टूट न जाए। इसके छिद्रों में से पानी तो बहकर बाहर निकल आता है। परंतु मछलियाँ इसमें फँस जाती हैं। मछलियाँ पकड़ने का यह सुलभ व पारम्परिक साधन है।

2-सूप

सूपा या सूप रिंगाल के पतले सरकंडों को छिलकर बनाए जाते हैं। इसका प्रयोग दैनिक जीवन व धार्मिक संस्कारों में अलग-अलग प्रकार से किया जाता है। 'सूप' की आकृति के रूप में करते हैं, भददी नाक के उपमा हेतु कहा जाता है कि 'सूप जसी नाक छू' अर्थात् सूपे की तरह की नाक है।

उपयोगिता की दृष्टि से 'सूप' भी डाल की भाँति ही होता है, परंतु आकार में यह 'डाल' से भिन्नता लिए होता है। यह एक ओर से खुला तथा दूसरी ओर से हल्का गोलाई लिए होता है। सूप का व्यावहारिक प्रयोग गेहूँ, चावल आदि की गंदगी साफ करने के लिए किया जाता है। इसमें गेहूँ को रखकर हवा में उछाला जाता है। जिससे गंदगी हवा में उड़ कर अलग हो जाती है तथा शेष छना हुआ गेहूँ रह जाता है।

धार्मिक व सांस्कृतिक दृष्टि से देखें तो 'सूप' का प्रयोग कई संस्कारों में अलग-अलग प्रकार से होता है। बूढी दिवाली के दिन सूप को प्रतीकात्मक रूप से प्रयोग किया जाता इसके एक ओर लक्ष्मीनारायण की आकृति बनायी जाती है तथा दूसरी ओर 'घुड़ियाँ' की आकृति को बनाया जाता है। इस संदर्भ में बैराठी व कुश का मत है कि –

“सूप के बाहरी हिस्से पर 'घुड़ियाँ' की आकृति बनाई जाती है जिसे 'दरिद्रता' के प्रतीक रूप में अंकित किया जाता है।”

“सूप पर एक तरफ अन्दर के हिस्से में लक्ष्मी-नारायण की आकृति बनायी जाती है जिनके पैरों का रुख अन्दर की ओर व सिर बाहर की ओर बनाया जाता है” जो घर में प्रवेश के प्रतीक रूप को दर्शाता है।”

यह अलग-अलग आकारों में बनाया जाता है। इसके छोटे रूप का प्रयोग विवाह में फेरों के संस्कार के समय खिले देने के लिए भी किया जाता है। घर में कार्यों के लिए प्रयुक्त सूप सादे होते हैं जो दिखने में आकर्षक लगते हैं।

3: डलिया (डाल)

डलिया बाँस से बनायी जाती है। इसे बनाने के लिए बाँस के डंडों को पतले-पतले आकार में काटा जाता है। इन पतली लकड़ियों को आपस में कालात्मक रूप में कपड़े की भाँति बुना जाता है। इस कार्य के लिए अनुभव व कुशलता की आवश्यकता होती है। इसे बड़ी ही बारीकी से बुना जाता है। सर्वप्रथम इसे आधार से प्रारम्भ करते हैं और धीरे-धीरे कलात्मक रूप से इसे गोल आकृति प्रदान की जाती है। बनने के पश्चात् यह बड़ी सुन्दर दिखती है परन्तु इसे बनाने वाले शिल्पकार को कठिन श्रम करना पड़ता है। इसका प्रयोग ग्रामीण महिलायें घास, गोबर व सब्जियाँ आदि उठाने के लिए करती हैं।

4: टोकरी

टोकरी भी डलिया की भाँति ही बनायी जाती है। परंतु यह आकार में छोटी होती है। इसका आधार का भाग भी कम चौड़ा होता है। टोकरी का प्रयोग अधिकांशतः रोटी रखने के लिए करते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें फल इत्यादि रखने के लिए भी इसका प्रयोग करते हैं।

5: महाव

महाव छोटी कंडी नुमा होती है। इसे बैलों के मुँह में लगाया जाता है। कृषि के समय जब बैलों को जोता जाता है तब उनके मुँह पर महाव लगाया जाता है, ताकि उस समय वे घास न चरें। इसमें बहुत से छेद होते हैं, जिससे बैलों को सांस लेने में परेशानी न हो। इसे रस्सी की सहायता से जोड़कर बैल के कानों में अटकाया जाता है।

6: आँखी ढोधा

ग्रामीण अंचलों में आँखी ढोधा का प्रचलन आम है। इसका प्रयोग गोबर, घास इत्यादि रखने के लिए किया जाता है। इसे

कपकोट क्षेत्र में 'ऑखी ढोघा' कहा जाता है। अन्य क्षेत्रों में ड्बाक, डोका कहा जाता है। इसे 'ऑखी ढोघा' इसकी बनावट के कारण कहा जाता है। इसमें जगह-जगह छिद्र छोड़े जाते हैं। जिस कारण छिद्रों को ऑख की संज्ञा देकर 'ऑखी ढोघा' कहा जाता है। इसमें बकरी के छोटे-छोटे बच्चों को भी रखा जाता है।

7: मीठी ढोघा

इसका आकार भी ऑखी ढोघा की तरह ही होता है। परंतु इसमें छिद्र नहीं छोड़े जाते हैं। इसका प्रयोग अनाज व कपड़े इत्यादि रखने के लिए किया जाता है।

8: जौचाण

यह रिंगाल निर्मित छलनी है। विभिन्न प्रकार के अनाजों में से अवशिष्ट सामग्री निकालने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। रिंगाल निर्मित यह छलनी चौकोर आकृति की होती है। इसमें छोटे-छोटे छिद्र छोड़े जाते हैं। आम छलनी की भाँति ही इसमें भी अनाज डाला जाता है तथा हाथ से छलनी को हिलाया जाता है। इसमें मुख्यतः जौ व चने इत्यादि छाने जाते हैं इसलिए इसे जौ-चाण कहा जाता है।

9: जौराण

ये दो रिंगालो का युग्म है जिनकी सहायता से गेहूँ व धान इत्यादि फसलों की बालियाँ निकाली जाती है। इन्हे चाइनीज चॉप स्टिक की भाँति उँगलियों में फँसाकर प्रयोग किया जाता है। ये लगभग 1 मीटर लम्बे सरकण्डे होते हैं। इन्हें हाथों में लेकर तथा इनके मध्य बालियों को फँसाकर उन बालियों को उनके तनों से अलग कर लिया जाता है। इनकी सहायता से यह अत्यधिक दुष्कर कार्य सरल हो जाता है। यह प्रक्रिया समय की भी बचत करती है। इसके प्रयोग का अन्य लाभ यह है कि इससे केवल बालियाँ अलग होती हैं तथा बाकी निचला तना शेष रह जाता है, जिसे बाद में काट लिया जाता है। धान का यह शेष भाग 'पराव' कहलाता है। यह पराव ठंडे क्षेत्रों के लिए अत्यधिक उपयोगी होती है। यह बिछावन के रूप में प्रयुक्त की जाती है। जो अत्यधिक गर्म होती है। यह जानवरों एवं मानवों दोनों के काम आती है। गेहूँ का शेष भाग जानवरों के चारे के रूप में प्रयुक्त होता है।

(ख)-वास्तुशिल्प अलंकरण

खोली-

उत्तराखण्ड की प्राचीन काष्ठ कला के परिप्रेक्ष्य में प्राचीन भवनों का मुख्य द्वार काष्ठ कला का सबसे आकर्षक पटल होता है। इसे खोली भी कहा जाता है। इसे विभिन्न अलंकरणों से सज्जित किया जाता है। यह भवन का सबसे भव्य व आकर्षक हिस्सा होता है। प्राचीन समय में यह गृहस्वामी के सामाजिक व आर्थिक स्तर का परिचायक हुआ करता था। जिस गृह का मुख्य द्वार अधिक वृहद व सुसज्जित होता था। उसका गृहस्वामी उतना अधिक रसूखदार व सम्पन्न समझा जाता था। पुराने भवनों में सामाजिक प्रतिष्ठा और जातीय उच्चता के अनुरूप ही प्रवेश द्वार भी बनाये जाते थे। थोकदार, प्रधान, पटवारी, पेशकार, साहूकार, ठेकदार और सयाणों के मकान आकार में बड़े और नयनाभिराम प्रवेश द्वार वाले होते थे।

मुख्य द्वार के विभिन्न भाग होते हैं जिन्हें क्षेत्रीय भाषा में अलग-अलग नामों से जाना जाता है :-

द्वार स्तम्भ

मुख्य द्वार में लगाए जाने वाले खड़े स्तम्भ नकोई कहलाते हैं। इनमें विभिन्न प्रकार के अलंकरण बनाये जाते हैं, मुख्यतः नकोई में घट पल्लव, सिंह स्तम्भ, गज स्तम्भ आदि निर्मित किए जाते हैं। नकोई को अधिकांशतः 2-3 स्तम्भों से बनाते हैं।

शीर्ष पटल

मुख्य द्वार में नकोई के ऊपर लगने वाली तिरछा या आड़ा स्तम्भ 'मथाव' कहलाता है। द्वार के शीर्ष अथवा माथे पर लगने के कारण इसे मथाव कहा जाता है। चौड़ाई में यह नकोई के बराबर ही रखे जाते हैं। जो अलंकृत की जाती है। मथाव कई बार 2 या तीन परतों के चौखटों से बनाये जाते हैं तथा सभी अलंकृत होते हैं।

शीर्ष पट्टिका

मथाव के ऊपरी भाग में जो मथाव का ही हिस्सा होता है। एक शीर्ष पट्टिका होती है। इस शीर्ष पट्टिका में आकृति अलंकरण होता है। यह मुख्य प्रवेश द्वार का शीर्ष हिस्सा होता है जिस कारण इसमें अधिकांशतः देवी देवताओं की आकृति उत्कीर्ण की जाती है। देवी-देवताओं में भी 'गणेश' आकृति को उत्कीर्ण करने का प्रचलन अधिक है। इस शीर्ष पट्ट में देवी देवताओं के अतिरिक्त प्रतीक चिन्हों यथा स्वास्तिक ओ०म आदि तथा विभिन्न पशु पक्षियों की आकृति भी उत्कीर्ण की जाती थी।

मोउ (महाव)

घर में लगने वाले अन्य दरवाजों को मोउ कहते हैं, खोली की अपेक्षा में आकार में छोटे होते हैं। बाहर लगने वाले मोउ अलंकृत होते हैं, भीतर के कम अलंकृत या सादे छोड़े जाते हैं।

देई

मुख्य द्वार के नीचे का पटल देई कहलाता है। घर की देहलीज अर्थात् प्रारम्भिक सीमा रेखा होने के कारण ही इसे देई कहा जाता है। देई आमतौर पर सादी ही छोड़ी जाती है।

मेहराब

बागेश्वर जनपद के काष्ठ शिल्प में मेहराब का प्रचलन बहुत अधिक तो नहीं दिखता, परंतु यहाँ के कुछ बड़े द्वार स्तम्भों के शीर्ष में मेहराब भी लगे हैं। मेहराब द्वार के पूर्ण चौखट से ऊपर का अतिरिक्त हिस्सा होता है। यह अर्द्धगोलाकार या आयताकार बनाया जाता है। इसमें उत्तम किस्म का अलंकरण कार्य देखने को मिलता है।

द्वार छत्र

मुख्य द्वार को और अधिक भव्य व आकर्षक बनाने के लिए यहां के कुछ प्राचीन भवनों में द्वार छत्र लगे देखे गये हैं। इनमें हस्ति या सिंह छत्र प्रारूप प्राप्त हुए हैं।

चौखट

खोली का द्वार चौखट पर आधारित होता है। यह प्रवेश द्वार के मुख्य आधार व ऊर्ध्व स्तम्भ होते हैं। चौखट का आकार भवन के आकार पर निर्भर करता है। बड़े भवनों के द्वार भी उसी अनुपात में विशाल बनाए जाते हैं, और बड़े द्वार के लिए चौखट भी बड़े बनाए जाते हैं, जबकि छोटे भवनों में छोटे चौखट रखे जाते हैं। चौखटों को अधिकांशतः सादा रखा जाता है परंतु आवश्यकतानुसार चौखटों को भी अलंकृत किया गया है। इसी संदर्भ में सुरेश टम्टा कहते हैं –

“दरवाजे को चौखट बहुधा एक मोटी लकड़ी का निर्मित किया जाता था। इसमें देवी-देवताओं की आकृतियों के अतिरिक्त कई प्रकार के फूल, पत्र, पुष्प, ज्यामितीय अलंकरण आदि बनाये जाते थे।”

खिड़कियाँ

छाज (छजली)

इसे स्थानीय भाषा में ‘महेरी’ भी कहा जाता है। द्वार स्तम्भों की भांति ही ‘छाजे’ या खिड़कियाँ भी सुन्दर अलंकरणों से युक्त होती हैं। इन खिड़कियों में सुन्दर पुष्प अलंकरण पशु-पक्षी, देवी देवता व ज्यामितीय अलंकरण दृष्टिगोचित होते हैं। छाजे भवन की दिवार में थोड़ा बाहर की ओर निकले रहते हैं ताकि इसमें धूप आसानी से प्रवेश कर सके। छाजे भवन के अनुसार रूप पटीय, द्विपटीय या त्रिपटीय कितने भी बनाये जा सकते थे। त्रिपटीय छाजों में भी कहीं-कहीं दो पट केवल सजावट के लिए जोड़ दिए जाते थे तथा केवल बीच के पट का ही प्रयोग किया जाता था, परंतु कहीं-कहीं तीनों पट खुलते थे। पटों के मध्य स्तम्भ में अधिकांशतः घट पल्लव का उत्कीर्णन अधिक प्रचलन में दिखता है।

नकली खिड़की (छाज) –

कई घरों में सजावट के तौर पर नकली खिड़कियाँ भी बनाई जाती थी। अन्य खिड़कियों की भांति इन्हें भी अलंकरण युक्त बनाया जाता है। ये भवन में रूप संतुलन का कार्य करती हैं, जिस प्रकार एक अच्छे चित्र का हर भाग विभिन्न आकारों से संतुलित किया जाता है ताकि उसका आकर्षण बना रहे तथा नीरसता उत्पन्न न हो। उसी प्रकार भवन के सौन्दर्य को नीरसता से बचाने के लिए आवश्यकतानुसार नकली खिड़कियाँ लगाई जाती हैं। इस संदर्भ में यशोधर मठपाल का कथन है कि

“मकान के मुख्य भाग पर प्रवेश द्वार और बड़ी खिड़कियों के अगल बगल सपाट दीवारों की विरसता भंग करने हेतु नकली खिड़कियाँ बनाई जाती हैं।”

मौन पालक छाज–

इस प्रकार के छाज अन्य की भांति ही अलंकृत तथा सुन्दर बनाए जाते हैं। परंतु प्रयोग की दृष्टि से इनकी उपयोगिता भिन्न है। पहाड़ों में अधिकांशतः शीत जलवायु रहती है। मौन का शहद शीत की ठिठुरन को हरने में सहायक होता है। वैसे भी शहद औषधीय गुणीय पदार्थ है। इसलिए घरों में मधुमक्खी पाल कर शहद प्राप्त करने के लिए नकली छाज की भांति ही छाज बनया जाता है। इसमें बाहरी आवरण सामान्य खिड़की की भांति ही होता है परंतु भीतर से यह लकड़ी की खोखली अटारी से बंद होता है जिसे गोबर से लीपा जाता है। खिड़की में बाहर से दो छेद किए रहते हैं तथा इन छिद्रों के मुँह में गुड़ रख देते हैं। मधु गुड़ से आकर्षित होकर इस अटारी के भीतर छत्ता बनाती है। शहद तैयार होने पर छत्ता भीतर से तोड़ देते हैं।

छजली–

ग्रामीण अंचल के भवनों की छत पाख कहलती है। इस पाख में लगने वाले पटालों को आधार देने के लिए लकड़ी की छजली लगाई जाती है। छजली के नीचे तोड़ों की पंक्ति होती है। छजली को भी अलंकृत किया जाता है।

तोड़े–

उत्तराखण्ड के जटिल भौगोलिक परिवेश में अन्य प्राणियों को भी यथोचित सम्मान प्राप्त है। इसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि यहाँ के वास्तुशिल्प में काष्ठ निर्मित तोड़ों के निर्माण का प्रचलन है। यहाँ की सांस्कृतिक परम्परा में कुछ पक्षियों यथा

कबूतर आदि का घर में घोंसला बनना शुभ माना जाता है। इस हेतु घरों की मुंडरे के नीचे भाग में चिड़ियों की सी आकृति नुमा तोड़े बनाए जाते हैं। इनके मध्य में कहीं-कहीं खाली स्थान छोड़ देते हैं ताकि चिड़ियों अपना घोंसला बना सकें। क्रमबद्ध लगे ये तोड़े अत्यंत सुन्दर व आकर्षक लगते हैं तथा भवन की शोभा में चार चांद लगा देते हैं।

जूँ (जू)-

क्षेत्रीय शैली के भवनों में भूतल में 'गोठ' अर्थात् गौशाला बनाई जाती है। इन गोठों की छत में बिछाए जाने वाली बल्लियाँ जू कहलाती हैं।

भित्त-

घरों में पड़ने वाली आधार भूमि पाल कहलाती है। इन पालों को आधार प्रदान करने के लिए भित्त का प्रयोग किया जाता है। इन्हें जू के ऊपर बिछाया जाता है। चीड़, उतीस आदि की लकड़ी को छोटे-छोटे टुकड़ों में काटकर सुनियोजित तरीके से बिछाया जाता है तथा इसके ऊपर मिट्टी व गोबर से लीप कर पाल तैयार की जाती है। कई ग्रामों में आज भी भित्त के द्वारा पाल निर्मित करने का प्रचलन है परंतु आज कल इनके स्थान पर लोहे के सरिया या जाल बिछाए जाने लगा है। पाल या पाख (छत) बनाने हेतु डुनदार/बल्लियों के ऊपर बिछाया जाने वाला भित्त/भ्युत/दादर पूर्णतः खुरदरा व अनगढ़ इसलिए किया जाता है ताकि इसमें विछायी जाने वाली गीली मिट्टी खुरदरे भाग में फंसाकर सूखने के बाद भी न खिसके।

बाँस-

बाँस, बाँस (Boboon) की लकड़ी नहीं है। अपितु बाँस भवन की छत निर्मित करने के लिए पड़ने वाली बड़ी-बड़ी बल्लियाँ होती हैं। यह क्षैतिज रूप में एक दीवार से दूसरी दीवार में लगाए जाते हैं। बाँस छत को आधार प्रदान करते हैं ताकि यह तेज वर्षा व तूफान से सुरक्षित रह सके। इन्हें उठाने के लिए 20-25 लोगों की आवश्यकता पड़ती है।

थुम-

यह भवन का सबसे मुख्य स्तम्भ होता है। यह समस्त भवन का भार वितरित करता है। यह भवन के बिल्कुल मध्य स्थान में लगाया जाता है। इसे सबसे बड़े आकार की पेड़ की तने से बनया जाता है। इसके ऊपर सिरे को जो छत की ओर रहता है, में बाँस वाली लकड़ियों को फँसाने के लिए फाँस बनाया जाता है।

दरड़-

क्षेत्रीय शैली में निर्मित कुछ भवन द्वितीय या तृतीय तल के भी निर्मित किए जाते हैं। इन तलों को लकड़ी से निर्मित सीढ़ियों द्वारा जोड़ा जाता है। भवनतल में मझ्याल में प्रवेश करने के लिए खोली बनाई जाती थी। लेकिन मझ्याल से पान या तृतीय तल में प्रवेश करने के लिए दरौड़ या लकड़ी की सीढ़ियों का निर्माण किया जाता था।

अघौड़-

ग्रामीण अंचलों में अघौड़ का प्रयोग गुप्त दरवाजे की भांति होता है। भवन के ऊपरी तल तथा निचले तल में आने-जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी रहती हैं। इन सीढ़ियों के मुख को अघौड़ से ढक दिया जाता है। इसे उन्हीं तख्तों से बनाया जाता है जो पाल में लगाए जाते हैं। ऊपर से इन्हें देखने पर एकाएक पता नहीं चलता कि यहां से नीचे को कोई रास्ता होगा। यह ढक्कन की भांति खोला जाता है। जिसमें किसी एक ओर से जोड़ लगे रहते हैं।

आगव-

कुमाँउनी शैली के घरों में दरवाजों व खिड़कियों को बंद करने के लिए कुंडियों का प्रयोग नहीं करते हैं अपितु इसके लिए दरवाजों व खिड़कियों में 'आगव' लगाए जाते हैं। आगव लकड़ी का लम्बा डंडा होता है। जिसे दरवाजों की दिवारों में बने छेदों में तिरछे फंसाया जाता है। यह मजबूत लकड़ियों का बनाया जाता है। घर की सुरक्षा की दृष्टि से आगव महत्वपूर्ण यंत्र है।

हयूँ-

हयूँ गोठ के दरवाजों में लगाया जाता है। जानवरों की रक्षा हेतु हयूँ एक महत्वपूर्ण प्रणाली है। यह एक ओर से मोटा होता है तथा दूसरी तरफ से नुकीला होता है। इसे दरवाजे में ऊपर से फँसाया जाता है। जिससे दरवाजा मजबूती से लॉक हो जाता है। इसके प्रचलन के बारे में कुमाँउनी में कहा जाता है कि -

“जब बाकर कै बाघ लिघो, तब हयूँ डालन सिख”

अर्थात् जब बकरी को बाघ ले गया तब हयूँ डालना सीखा गया।

ग : धार्मिक संस्कारों में प्रयुक्त काष्ठ

चौक (चौकी)

जनपद में विभिन्न संस्कारों के अन्तर्गत काष्ठ चौकियों का निर्माण किया जाता है। यहाँ की लोक कला ऐपण के द्वारा इन काष्ठ चौकियों को सज्जित (अलंकृत) किया जाता है। विभिन्न शुभ अवसरों पर मान्यतानुसार भिन्न-भिन्न चौकियों का निर्माण किया जाता है। विभिन्न तंत्रों, मंत्रों व मंत्रों से अलंकृत से काष्ठ चौकियाँ अत्यंत आकर्षक होती हैं। ये काष्ठ चौकियाँ, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं व्यवहारिक जीवन के विभिन्न अवसरों व क्रियाकलापों से जुड़ी होती हैं। नित्य पूजा-पाठ, देवी-देवता के स्थान निर्धारण एवं शादी विवाह, जनेऊ आदि धार्मिक कार्यों के साथ-साथ दैनिक जीवन के क्रियाकलाप जैसे रसोई में गृह कार्य में सहयोग हेतु प्रयुक्त होती हैं। इन चौकियों के द्वारा देवताओं को सामान्य से उच्च स्थान में प्रतिष्ठित करते हैं। ये चौकियाँ हमारे नियमित संस्कारों को सम्पन्न करने हेतु आवश्यक साधन हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न है—

क- वर चौकी-

यह काष्ठ चौकी कुमाऊँनी विवाह संस्कार में प्रयुक्त होती है। धूलि अर्घ्य के कलात्मक ऐपण के ऊपर इस चौकी का प्रयोग 'वर' के लिए किया जाता है। कन्या के पिता द्वारा वर के पाँव धोकर ससम्मान वर को चौकी के ऊपर खड़ा किया जाता है। इस चौकी को हल्दी से पीला करते हैं तथा 'ऐपण' कला के द्वारा इस पर विभिन्न आकृतियों जैसे पुष्प, सूर्य, स्वास्तिक आदि अंकित किए जाते हैं।

ख- आचार्य चौकी-

आचार्य चौकी भी विवाह संस्करण में प्रयुक्त होती है। विवाह सम्पन्न कराने वाले ब्राह्मण के लिए इसे प्रयुक्त किया जाता है। यह वर चौकी से थोड़ा भिन्न बनाई जाती है। इसमें कमल या स्वास्तिक अंकन किया जाता है। चौकी के ऊपरी हिस्से पर तोतों का अंकन करते हैं।

ग- कन्यादान चौकी-

विवाह संस्कारों की सबसे पवित्र रस्म कन्यादान हेतु एक विशेष चौकी का प्रयोग किया जाता है, जिसे 'वधु चौकी' या कन्यादान चौकी कहा जाता है।

सुरवा

सुरवा को स्थानीय जनमानस के मध्य 'अर्घ्य' भी कहा जात है। इस यंत्र का प्रयोग विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों में किया जाता है। यह यंत्र करछी (डाढ़) के समान होता है। इसके अग्र भाग की गोलाई कम गहराई लिए होता है तथा हस्त संचालन हेतु प्रयुक्त हैण्डल थोड़ा चपटा होता है।

यह यंत्र मुख्यतः यज्ञ व हवन कार्यों के लिए प्रयुक्त होता है। आमतौर पर इसे सामान्य ही बनाया जाता है। 'सुरवे' की सहायता से यज्ञ या हवन में 'घ्रित', 'कुश' व 'तिल' आदि पवित्र सामग्री रखकर अग्नि को समर्पित किया जाता है।

नामकरण संस्कार में ब्राह्मण द्वारा नवजात की माता को छुआकर उसे शुद्ध करने के लिए भी किया जाता है। माँ व बच्चा जन्म के दस दिन तक घर के निचले तल में रहते हैं। जिसे 'क्वड़' कहा जाता है। तदुपरांत 'ग्याहरवे' दिन उन्हें शुद्ध करके अन्य रस्मों का पालन किया जाता है।

काष्ठ छत्र-

13वीं 14वीं शताब्दी के आसपास उत्तराखण्ड में पूर्ण काष्ठ निर्मित मंदिर निर्माण का प्रचलन था। यहाँ के अधिकांश मंदिर नागर शैली एवं वर्गाकार गर्भगृह पद्धति से निर्मित हैं। इस पद्धति से निर्मित मंदिर या तो पूर्णतया काष्ठ से निर्मित बनाए गए, जैसे अलोल थान, हनोल एवं अगासमुनि आदि के मंदिर या तो काष्ठ छत्र युक्त निर्मित किए गए जैसे गोपेश्वर, केदारनाथ, जागेश्वर, बिनसर आदि। उमा प्रसाद थपलियाल ने इस प्रकार के काष्ठ छत्र मंदिरों को कत्यूरी शिखर शैली माना है।

“उत्तरांचल के अधिकांश मंदिरों के शिखर नागर शैली में बने हैं। जागेश्वर जैसे कई स्थानों पर जहाँ कई मंदिर एक साथ बने हैं, बड़े मंदिरों में कत्यूरी शिखर बना है।

जबकि छोटे मंदिरों में नागर शिखर।”

कठोच के विचार में यह शैली गुप्त कालीन परम्परा को अग्रवाहक शैली है। कत्यूरी शैली नहीं है—“ इन काष्ठ-छत्र प्रसादों को कभी-कभी शिथिल रूप से 'कत्यूरी शिखर मंदिर' कहा गया है, परंतु यह नाम सर्वथा अग्राह्य है।” वे काष्ठ छत्र मंदिर निर्माण शैली का सम्बन्ध उत्तर गुप्त काल से जोड़ते हैं।

“इस काल में यहाँ उत्तर भारतीय प्रचलित शैली के पंचरथ, त्रिरथ और एकरथ प्रसादों का निर्माण हुआ, परंतु प्रधान देवालियों की शीर्ष रचना बड़ी 'पैगोड़ा प्रकार' की बनी रही। स्कन्ध के ऊपर विशाल आमलक को ढकते हुए एकाधिक ढालू काष्ठ छत्र बनाए गये।”

इसे कत्यूरी शिखर शैली माना जाये या नहीं इस पर चर्चा संभव है, परंतु इस तथ्य को अस्वीकार्य नहीं किया जा सकता कि कत्यूरी राजाओं के शासन काल में मंदिर वास्तु शिल्प का उचित विकास हुआ।

जनपद बागेश्वर के पुण्य धाम 'बागनाथ' में भी इसी प्रकार का काष्ठ छत्र उपस्थित है। वर्गाकार मंदिर के शीर्ष पर अलंकृत छत्र विराजमान है। यह मंदिर छत्र, उत्तराखण्ड के 'छत्र प्रसाद शैली' परम्परा के कुछ अनमोल उदाहरणों में से एक है। यह

छत्र पुष्प –पत्रिकाओं के अलंकरणों से अलंकृत है। इसकी उपस्थिति इस प्राचीन शिव मंदिर को विशेष पहचान एवं भव्यता प्रदान करती है।

घ : कृषि कार्य से सम्बन्धित उपकरण

भारत एक कृषि प्रधान देश है। उत्तराखण्ड के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो यहाँ की अधिकांश जीविका कृषि पर आधारित है। यहाँ प्रचलित सीढ़ीनुमा खेत कृषि की एक अनूठी व्यवस्था है। 'काष्ठ' व 'कृषि' का सम्बन्ध अत्यंत प्राचीन है। प्रारम्भ से ही काष्ठ की सरल सुलभता के कारण कृषि जैसे महत्वपूर्ण कार्य के लिए काष्ठ उपकरणों का प्रयोग होता रहा है, जो आज भी काफी हद तक प्रचलन में हैं। जनपद बागेश्वर में प्रयोग होने वाले काष्ठ उपकरण निम्न हैं—

हल—

कृषि मानव सभ्यता के विकास का सबसे महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक है, कृषि कार्य ने मानव को जीवन संघर्ष में भोजन के नए विकल्प प्रदान किए। कृषि ने न केवल मानव जीवन को सरल किया अपितु इससे मानव-मानव के ज्यादा नजदीक आया, गाँव बसे, फिर नगरों ने जन्म लिया और इस तरह मानव सभ्यता वर्तमान स्वरूप ग्रहण कर सकी। आज भी मानव कृषि आधारित भोजन व्यवस्था पर निर्भर है, विश्व की अधिकांश जनसंख्या का बड़ा भाग आज भी कृषि द्वारा ही जीवनयापन करता है। कृषि को उन्नत बनाने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका उसमें प्रयुक्त उपकरणों की रही है। निसंदेह ही ये उपकरण प्रारम्भिक रूप में काष्ठ से निर्मित थे, इनके प्रमाण हमें प्रागैतिहासिक चिह्नों एवं प्राचीन ग्रंथों से प्राप्त होते हैं।

हल कृषि कार्यों में प्रयुक्त होने वाला सबसे महत्वपूर्ण उपकरण है। इसे मजबूत लकड़ी से बनाया जाता है। इसीलिए इसे बनाने में साल, सागौन, बांज, शीशम, चुनडी आदि की मजबूत लकड़ी से निर्मित किया जाता है। खेतों में फसल बोन से पूर्व उनमें हल चलाया जाता है ताकि नीचे की नम मिट्टी ऊपर आ सके। यह एक ओर से चौड़ा होता है तथा दूसरे सिरे की ओर पतला बनाया जाता है ताकि बैलों के खींचने से उत्पन्न शक्ति का ज्यादा से ज्यादा जोर भूमि पर पड़े। हल में 'नस्यूड़' व हल्दाब (जत्यूड़) जुड़े रहते हैं तथा एक सिरे पर हत्था लगा होता है जिससे 'हल्या' (हल चलाने वाला) हल को नियंत्रित कर सके। हल की अभियंत्रिकी को समझने के लिए इसके विभिन्न घटकों का सूक्ष्म वर्णन निम्न है :-

नस्यूड़ (नहड़)—

काष्ठ से निर्मित यह एक पट्टेनुमा आकृति होती है। इसे नहड़ भी कहा जाता है। यह आगे से नुकीला होता है तथा इसमें लोहे का नुकीला पट्टा लगा होता है। नस्यूड़ इस लोहे की कील नुमा आकृति को आधार प्रदान करती है ताकि वह अपने यथास्थान बने रहे। इसकी उपयोगिता के कारण यह आवश्यक होता है कि इसे मजबूत लकड़ी से बनाया जाए। अधिकांशतः नस्यूड़ बनाने के लिए बांज की लकड़ी का प्रयोग किया जाता है।

ज्यूँ—

ज्यूँ हल का ही सहायक उपकरण है। इसका कार्य हल को बैलों के कंधे से जोड़ना है। यह बैलों के कंधे से बांधा जाता है तथा इसकी आकृति आयकताकार पट्टेनुमा होती है। इसमें बीच में एक बड़ा सा छेद होता है। इस छेद में जत्यूड़ वाला हिस्सा जोड़ा जाता है। ज्यूँ में रस्सी की सहायता से बैलों को बांधा जाता है। इसे कहीं जुवा तथा कहीं ज्यों कहा जाता है।

लट्टयूड़

लट्टयूड़ हल का मुख्य स्तम्भनुमा आकृति है। यह एक ओर को थोड़ा पतला तथा सिरे पर हुक नुमा होता है तथा दूसरी ओर चौड़ा होता है। जिसमें आवश्यकता के अनुसार नस्यूड़, पट्ट्याव या दन्याव जोड़ा जाता है।

स्वाल (शौल)—

यह ज्यूँ का ही एक सहायक उपकरण है। यह जोड़े के रूप में होता है। इससे बैलों में लगाम लगाई जाती है। बैल इन्हीं 'श्वालों' की सहायता से हल में नियंत्रित रहते हैं। ये ज्यूँ के दोनों ओर लगाए जाते हैं। एक शवाल जोड़ा एक बैल की गर्दन पर तथा दूसरा जोड़ा दूसरे के गर्दन पर लगता है। इस प्रकार हल वैज्ञानिक पद्धति से शवाल ज्यूँ, जत्यूण, नस्यूड़ व हत्थे आदि के परस्पर सहयोग से कृषि जैसे महत्वपूर्ण कार्य को सम्पादित करता है।

दन्याव

यह घने जमे धान, गेहूँ आदि को कम करने के काम आता है। इसे जुवे में हल के स्थान पर जोड़ा जाता है। इसमें पीछे का सिरा नुकीले कंधे के आकार का होता है। जो अधिक घने खेतों को पतला कर देता है। जिससे फसल सही होती है।

पट्ट्याव (पट्टेला)—

इस यंत्र का प्रयोग कृषि में हल जोत लेने के बाद किया जाता है। हल जोतने के पश्चात् खेतों में मिट्टी के बड़े-बड़े टेले उभर आते हैं। अतः इन्हें समतल करना आवश्यक हो जाता है। 'पट्ट्याव' या 'पट्टेला' की सहायता से खेतों में मिट्टी के उन ढेलों को फोड़ कर खेत समतल किया जाता है। इसे हल के हल्दाव (लट्टयूड़) से जोड़ा जाता है। इसमें चार या छः खांचे बने होते हैं

तथा हल्थेनुमा छोटी डंडियां जुड़ी रहती थी। जिनके बीच में पैरों को फंसाकर हल को चलाया जाता है, नीचे से यह चौड़ा होता है तथा ऊपर से हलिया का भार पड़ने के कारण ढेले फूटते जाते हैं तथा भूमि समतल होने लगती है।

डेलार

‘डेलार’ का कार्य भी कुछ-कुछ पट्याव की तरह ही होता है। परन्तु इसकी कार्यप्रणाली थोड़ा अलग है। पट्याव के प्रयोग के बाद भी जब भूमि में मिट्टी के ढेले बच जाते हैं तो डेलार का प्रयोग किया जाता है। इसमें निचला हिस्सा चौड़ा होता है तथा यह एक डंडे में लगाया जाता है। कृषक हाथ से इसका उपयोग कर मिट्टी के ढेले फोड़ता है।

बीड़ (बीन)–

काष्ठ प्रत्येक रूप में उपयोगी होती है चाहे बड़े कार्यों में हो या छोटे कार्यों में। ‘बीन’ कृषि में उपयोग होने वाले विभिन्न उपकरणों में प्रयुक्त किया जाता है। इसका प्रयोग फावड़ा, दराती, कुदाल, बेलवा, कुल्हाड़ी, गैँडों आदि में किया जाता है। इन यंत्रों में ‘बीन’ डाले बिना कार्य नहीं किया जा सकता। ‘बीन’ हमेशा मजबूत लकड़ी के बनाए जाते हैं। परन्तु इस बात का ध्यान दिया जाता है कि प्रयुक्त लकड़ी ज्यादा वजनी न हो। इन्हें प्रयोग करने से पूर्व घरों की छतों में सुखाने के लिए डाला जाता है जिससे ये मजबूत भी हो जायें और हल्की भी।

साकड़ (धौन)–

कृषि एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। उपयुक्त जलवायु के अलावा इस कार्य की सफलता इस बात पर भी निर्भर करती है कि कृषि कार्य को सम्पादित करने वाला हलिया अनुभवी हो तथा जोते जाने वाले बैल दक्ष हो। नए बछड़ों की सीधे खेतों में नहीं जोता जाता है। उन्हें अभ्यास हेतु पहले ‘साकड़’ अथवा ‘धौन’ में जोता जाता है। साकड़ एक लम्बा मजबूत व दण्डनुमा आकृति होती है। इसे आंगन या खेतों के बीच में गैँठ (लगाना) दिया जाता है तथा रस्सी की सहायता से बैलों को इसमें बांध दिया जाता है। बैल इसके चारों ओर चक्कर लगाते रहते हैं। इसकी सहायता से दोनों जोड़ों के बैलों में परस्पर समन्वय स्थापित होता है। इसमें अधिकांशतः नए या शरारती बैलों को जोता जाता है।

साकड़ में बैलों को बाँधकर उनके चलने वाले पथ पर मडुवा, जौ, गोहूँ, धान आदि की बालियाँ बिछा दी जाती है तथा बैलों के उन बालियों पर चलने से बीज साफ हो जाते हैं।

बौकिल–

हल के सही संचालन के लिए बौकिल की महत्वपूर्ण उपयोगिता है। हल के लट्यूड़ में सिरों के कोने में एक छोटा चपटा छेद बना रहता है। लट्यूड़ को जट्यूड़ में डल कर, जट्यूड़ को छेद से पीछे से निकाल कर उस छेद में बौकिल लगा दिया जाता है। यह एक कीलनुमा आकृति होती है। बौकिल के कारण लट्यूड़ (हल्दाब) आगे पीछे नहीं खिसकता है तथा हल जोतने में आसानी रहती है।

हतिन–

अनाज कूटने (पीसने) के लिए प्रयुक्त घरेलू उपकरणों यथा जातर, चाख, हाथ की चक्की आदि के संचालित करने के लिए हतिन का प्रयोग किया जाता है। हाथ की सहायता से चलाने के कारण इसे हतिन कहते हैं। यह हल्थेनुमा आकृति होती है जिसे चारों ओर छेद में फँसा दिया जाता है। यह चारों ओर के समस्त भार को विस्तारित कर देता है जिससे उन्हें चलाना आसान हो जाता है। हतिन की सहायता से चारों ओर आसानी से चला सकते हैं। हतिन वाले चारों ओर अधिकांशतः मसाले ही कूटे (पीसे) जाते हैं। मोटा अनाज नहीं पीसा जाता।

मूसल (ओखल) –

कुमाऊँ में धान, गोहूँ, दालें, व मसालें इत्यादि पीसने के लिए मूसल का प्रयोग होता है। ये दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार का मूसल ओखली में प्रयुक्त होता है। यह डेढ़ से दो मी० तक लम्बा होता है। इसे अधिकांशतः सादा ही रखा जाता है परन्तु कभी-कभी इसमें 2 से 3 मेखला गढ़ दिये जाते हैं। इसके ठीक मध्य भाग में लगभग एक ताल (1 हथेली) के बराबर भाग को छील दिया जाता है तथा अन्य भाग की अपेक्षा थोड़ा पतला किया जाता है। इस छिले हुए भाग से मूसल को पकड़ा जाता है तथा जमीन में खोदे गए गोलाकार ओखली में अनाज को कूटा जाता है। इस प्रकार के मूसल के लम्बे आकार का विशेष कारण यह है कि कुछ अनाज प्रकृति में ठोस होते हैं तथा उन्हें कूटने के लिए अधिक ताकत की आवश्यकता होती है। इसका पतला एवं लम्बा आकार अनाज कूटने के लिए आवश्यक बल उत्पन्न करता है। मूसल बनाने के लिए खैर की लकड़ी के अन्दर का लाल भाग उपयोग में लाया जाता है, जिसे ‘गाब’ कहते हैं।

द्वितीय प्रकार का मूसल आकार में छोटा होता है। यह मुद्गर सदृश एवं आकार में गोलाई लिए होता है। यह मुख्यतः मसालों को कूटने के काम आता है। जिनमें अधिक बल की आवश्यकता नहीं पड़ती।

5:वाद्य यंत्र

कला प्रत्येक रूप में सुन्दर है। यह स्वयं तो विकासोन्मुख है, अन्य साधनों के लिए भी विकास का मार्ग प्रशस्त करती है। कला एवं संगीत ईश्वर प्राप्ति के दो मार्ग हैं जो सर्वप्रिय हैं। कला एवं संगीत तो कभी संगीत ने कला को सहयोग प्रदान किया है।

संगीत को स्वर प्रदान करने वाले वाद्ययंत्रों को कला ने ही आकार प्रदान किया है। उत्तराखण्ड में प्रयुक्त होने वाले अधिकांश वाद्ययंत्रों जिन्होंने इन लोकधुनों को सुसज्जित किया है। उन्हें काष्ठ से निर्मित किया जाता है। जिनका उल्लेख निम्न हैं –

(1) ढोलक –

ढोलक भारतीय समाज के त्यौहारों व लोकगीतों का प्रमुख वाद्ययंत्र है, पूरे भारत में यह छोटे से लेकर बड़े उत्सवी माहौल में रंगत जमाने का प्रमुख साधन है। यह लकड़ी व चर्म की परस्पर जुगलबंदी का अद्भुत उदाहरण है। इसे ज्यादातर आम की लकड़ी से बनाया जाता है, बीच का भाग गोलाई में उभार लिए रहता है, तथा किनारों में मध्य भाग की अपेक्षा थोड़ा संकुचन आ जाता है। इसके किनारों को जानवरों की पतली खाल के पूड़ों से कस दिया जाता है। फिर रस्सियों को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाता है कि आवश्यकता पड़ने पर चर्म को कसा जा सकें। यह लोकवाद्य कुमाऊँ में काफी प्रचलित है। इस कारण प्रतिवर्ष होली आदि अवसरों पर इसकी माँग भी बढ़ जाती है। कुमाऊँ की होली बैठ की होली, महिला संगीत, सत्संग, कीर्तन, दैनिक पूजापाठ व विवाहोत्सव में गीतारों के सहयोगी के रूप में ढोलकी का प्रयोग किया जाता है।

(2) करताल –

करताल को कुमाऊँनी भाषा में 'खड़ताल' कहा जाता है। संगीत की विभिन्न महफिलों जैसे – भजन, कीर्तन, सत्संग, होली गायन इत्यादि में करताल सहायक वाद्ययंत्र के रूप में प्रयुक्त होता है। यह लकड़ी के दो हस्तप्रयुक्त टुकड़े होते हैं, इसमें किसी धातु के पतले पत्तर लगाए जाते हैं। इसे दोनों हाथों में लेकर व्यवस्थित रूप से ताल को मिलाया जाता है। संभव है गीत के ताल में करताल को संयोजित करने के कारण ही इसका नाम 'करताल' पड़ा हो। यह कर अथवा हाथों की हरकतों से व्यवस्थित किया जाता है।

(3) हुड़का –

यह कुमाऊँ की पहचान है, यह कुमाऊँ क्षेत्र का प्रमुख वाद्य यंत्र है। कुमाऊँ क्षेत्र अपने हुड़का बौल के लिए जग प्रसिद्ध है। यहाँ के लोगगीतों, लोकनृत्यों व लोकगाथाओं – झोड़ा, चाचरी, छपेली, भगनौल, घनेणी, रमौल व ऋतुरैण आदि में प्रमुख रूप से बजाया जाता है। यहाँ के कृषि कार्यों में हुड़का बौल का विशेष स्थान महत्व है। हुड़का वादक हुड़के की थाप के साथ लोकगीतों की मधुर तान छेड़ता है, जिससे खेत में कार्य कर रहे स्त्री-पुरुषों का जोश इस श्रमशील कार्य में बढ़ता रहता है।

हुड़की की थाप का अन्य विशेष महत्व यहाँ के जागर परम्परा में गाए जाने वाले वीर गाथाओं में भी है। इसकी थाप, डंगरिया व अवतरित देवता दोनों का अतरने के गति को थामने तथा तेज करती रहती है। इसका आकार डमरु की भांति होता है। यह मध्य भाग में डमरु की तरह ही संकरा होता है। इसे संकरा इसलिए बनाया जाता है ताकि हुड़का वादक इसे मध्य भाग से पकड़कर नियंत्रित कर सके। हुड़का प्रायः 'खिन', 'खिमर' अथवा बरौ की लकड़ी का बनाया जाता है।

देवभूमि उत्तराखण्ड में प्राचीन काष्ठ शिल्प का अनुपम भण्डार मौजूद है। आज ये काष्ठ शिल्प कहीं अच्छी हालत में हैं तो कहीं ये नष्ट होने के कगार पर पहुँच चुकी हैं। आज निर्माण के नए विकल्पों की उपलब्धता होने, जंगलों के नष्ट होने, निर्माण लागत में वृद्धि तथा संरक्षण की जागरूकता की कमी के कारण अलंकरणों के अतुल्य अभिप्रायों से सम्पन्न काष्ठ शिल्प का संवर्द्धन नहीं हो पा रहा है।

कुमाऊँ मण्डल के विभिन्न जनपदों में काष्ठ शिल्प का अनुपम भण्डार वर्तमान में मौजूद है, परन्तु ये प्राचीन शिल्प अब परम्परा से हटते जा रहे हैं तथा लुप्त होते जा रहे हैं। ये काष्ठ शिल्प देवताओं, मानव व पशु-पक्षी अलंकरणों, ज्यामितीय अभिकरणों, बेल-बूटों, एवं तंत्र अभिप्रायों से सुसज्जित हैं, जो हमारी प्राचीन संस्कृति की आत्मिक अभिव्यक्ति हैं। परन्तु ये अभिप्राय लुप्त क्यों हो रहे हैं, तथा परम्परा से क्यों हटते जा रहे हैं आदि प्रश्नों के निदान हेतु, यहाँ मौजूद काष्ठ कला में उपस्थित कलात्मक अभिप्रायों का उच्च स्तरीय अध्ययन किया जाना चाहिए, यह प्राचीन कला परम्परा नये सोपानों को ग्रहण कर सके तथा अध्ययन की मान्यताओं में स्थापित हो सके। आज आवश्यकता है कि इनके लुप्त होने से पूर्व कला के इन अनुपम भण्डार को संरक्षित कर लिया जाए।

सन्दर्भ

- 1 : हंसराज दर्शक, देवभूमि : उत्तराखण्ड, राजभाषा प्रकाशन, दिल्ली (2009)
- 2 : बी. डी. पाण्डे, कुमाऊँ का इतिहास, श्याम प्रकाशन, अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा, (1997)
- 3 : अथर्ववेद
- 4 : ऋग्वेद
- 5 : इला साह, संस्कृत वाङ्मय में शिल्पकलायें, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली (2004)
- 6 : सक्सेना, कौशल किशोर, कुमाऊँ : कला शिल्प और संस्कृति, अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा (1994)
- 7 : सुरेश कुमार टम्टा, वर्तमान अतीत मध्य हिमालय का शिल्प, शिल्पकार एवं नृ-पुरातत्व, अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा (2007)
- 8 : कृष्णा वैराठी व कुश, कुमाऊँ की लोक कला संस्कृति और परम्परा, अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा, (1992)
- 9 : यशोधर मठपाल, उत्तराखण्ड का काष्ठशिल्प, ग्रामीण एवं लघु उद्योग आयोग, श्रीनगर, उत्तराखण्ड, (1997)
- 10 : उमा प्रसाद थपलियाल, उत्तरांचल ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आयाम, बी.आर. पब्लिशिंग कार्पोरेशन, दिल्ली, (2005)
- 11 : यशवंत सिंह कठोच, मध्य हिमालय, खण्ड 1, भागीरथी प्रकाशन गृह, टिहरी, (1966)
- 12 : शेरसिंह बिष्ट, कुमाऊँ के लोक वाद्य, नंदास्मारिका, (2008)

- 1.दर्शक हंसराज, देवभूमि : उत्तराखण्ड,, पृष्ठ सं. 174
- 2.पाण्डे, बी0 डी0, कुमाऊँ का इतिहास, पृष्ठ सं., 443
- 3.अथर्ववेद 3-5-6 (ये धीवानोरथकाराः ।)
- 4.ऋग्वेद 9-112-1
- 5.साह , इला , संस्कृत वाङ्मय में शिल्पकलायें , पृ. 228
- 6.सक्सेना, कौशल किशोर, कुमाऊँ : कला शिल्प और संस्कृति,पृ. 27
- 7.टम्टा, सुरेश कुमार वर्तमान अतीत मध्य हिमालय का शिल्प, शिल्पकार एवं नृ-पुरातत्व,पृ. 145
- 8.अल्मोड़ा बुक डिपो , अल्मोड़ा साह,इला, वही पु., पृ. 222
- 9.वही पुस्तक , वही पृ.
- 10.वैराठी कृष्ण व कुश, कुमाऊँ की लोक कला संस्कृति और परम्परा, पृ. 82
- 11.वही पुस्तक , वही पृ.
- 12.मठपाल यशोधर , उत्तराखण्ड का काष्ठशिल्प पृ. 129
- 13.सुरेश टम्टा :वही पु., पृष्ठ सं. 58
- 14.मठपाल, वही पु., पृ. 133
- 15.टम्टा , वही पु., पृ. 56
- 16.थपलियाल, उमा प्रसाद ,उत्तराचल एतिहासिक एवं सांस्कृतिक आयाम,पृ.158
- 17.कठोच,यशवंत सिंह, मध्य हिमालय, खण्ड 1,पृ. सं. 74
- 18.वही पु. पृ. 75
- 19.शेरसिंह बिष्ट , कुमाऊँ के लोक वाद्य, नंदास्मारिका, पृष्ठ सं. 09, 2008,
- 20.वही, पृष्ठ सं. 10
- 21.वही पु., पृष्ठ सं. 06



Harish Singh Dafouti

Research scholar , D S B Campus , Kumaoun University Nainital , Uttarakhand.

Publish Research Article International Level Multidisciplinary Research Journal For All Subjects

Dear Sir/Mam,

We invite unpublished Research Paper, Summary of Research Project, Theses, Books and Book Review for publication, you will be pleased to know that our journals are

Associated and Indexed, India

- * International Scientific Journal Consortium
- * OPEN J-GATE

Associated and Indexed, USA

- Google Scholar
- EBSCO
- DOAJ
- Index Copernicus
- Publication Index
- Academic Journal Database
- Contemporary Research Index
- Academic Paper Database
- Digital Journals Database
- Current Index to Scholarly Journals
- Elite Scientific Journal Archive
- Directory Of Academic Resources
- Scholar Journal Index
- Recent Science Index
- Scientific Resources Database
- Directory Of Research Journal Indexing

Indian Streams Research Journal
258/34 Raviwar Peth Solapur-413005, Maharashtra
Contact-9595359435
E-Mail-ayisrj@yahoo.in/ayisrj2011@gmail.com
Website : www.isrj.org